57वाँ

समय के साखी

प्रगतिशील साहित्यिक पत्रिका

जेन्डर डिस्कोर्स पर केन्द्रित

ISSN 2277-1972
RNI-MPHIN/2008/25439
जुलाई-दिसम्बर 2025

पिछले कुछ बरसों में अफगानिस्तान की युवा स्त्री चित्रकार शमसिया हस्सानी के भीत-चित्रों ने दुनिया भर का ध्यान खींचा है। ईरान में शरण लिये अफगान माँ-पिता की बरस 1988 में जन्मी संतान शमसिया साल 2005 में अफगानिस्तान लौटी और काबुल विश्वविद्यालय से ललित कला में उपाधि हासिल कर वहीं अध्यापन करने लगी। अपने देश-समाज के हालात से बेचैन शमसिया की चिंता रही कि आम लोग कला-वीथियों और संग्रहालयों में प्रदर्शित कलाकृतियाँ नहीं देख पाते। वे कलाकृतियाँ जितनी भी सशक्त हों, उन लोगों तक पहुँच ही नहीं पातीं, जिन्हें वह सम्बोधित होती हैं। अफगान स्त्रियों के कष्टों और संतापों के साथ ही उनकी ताकत और दृढ़ता से जनता को परिचित कराने के लिए वर्ष 2010 में शमसिया ने नुक्कड़-चित्रकारी (स्ट्रीट-आर्ट) को आजमाना तय पाया। उनके बनाये भीत-चित्रों में चेहरों पर स्कॉर्फ लपेटी औरतें हैं, जिनके ओंठ नदारद हैं कि समाज में उनकी 'आवाज़' ही नहीं है। बड़ी-बड़ी पलकों वाली अपनी आँखें ये मींच लेती हैं कि कष्ट और दुःख कुछ कम महसूस हो। उनके हाथों में अक्सर कोई वाद्य-यंत्र हैं, उनकी खामोशी को स्वर देने के लिए। इन भीत-चित्रों, जिनमें एक बंद समाज में 'स्त्री' की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियाँ उजागर हैं, न केवल विश्व कला-जगत बल्कि राजनीतिक विमर्शों में भी जगह बनायी हैं। पिछले कुछ वर्षों में सांस्कृतिक प्रतिरोध की सशक्त प्रतिनिधि बतौर उभरी शमसिया ने उस कला-विधा की प्रासंगिकता को भी फिर रेखांकित किया है, जो उत्पीड़ितों की अभिव्यक्ति के लिए ही अस्तित्व में आयी थी। अफगानिस्तान की सत्ता पर फिर तालीबानियों के काबिज़ हो जाने के बाद शमसिया लॉस एंजेलिस, संयुक्त राज्य अमेरिका में निर्वासित जीवन जी रही हैं।

सामने देखती हूँ, भविष्य की ओर, और हृदय आशा से भर उठता है। सदियों झेला है, पर सामने पौ फट रही है, उषा थिरक रही है। संघर्ष सामने है सही, पर जोर लगा कर बन्धन तोड़ दूँगी, आगे की मंजिलें सर करूँगी, जिन्होंने लाल सूरज को छिपा रखा है।...

- भगवत शरण उपाध्याय

परामर्श
राजेश जोशी
रामप्रकाश त्रिपाठी
सेवाराम त्रिपाठी

आवरण और भीतर के चित्र
शमसिया हस्सानी

संपादक
आरती

समय के साखी
जुलाई-दिसम्बर 2025

UPI - 9713035330
(फोनपे, पेटीएम, गूगलपे)

******5330

यह अंक Notnull.com पर उपलब्ध है।

यह अंक : 300/-
: 350/- (डाक खर्च सहित)

सदस्यता

आजीवन : 5000/- (व्यक्तिगत)
: 8000/- (संस्थाओं के लिए)
एक साल : 700/- मात्र
दो साल : 1400/- मात्र
संस्थाओं के लिए यह अंक 350/- (डाक खर्च सहित)

समस्त भुगतान 'समय के साखी' के नाम स्वीकार्य होंगे। खाता क्रं. 451702011003868, IFSC Code UBINO545171 'समय के साखी' नामे, यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, शाखा-अरेरा कॉलोनी, भोपाल में जमा कर सकते हैं।

संपादकीय कार्यालय :
701, अन्नपूर्णा परिसर, पीएण्डटी चौराहा के पास,
भोपाल (म.प्र.) 462003
मो. - 9713035330
Email : samaysakhi@gmail.com

आकल्पन : गणेश ग्राफिक्स, भोपाल

प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामी आरती द्वारा गणेश ग्राफ़िक्स, देशबंधु भवन, प्रथमतल, 26 बी, प्रेस काम्प्लेक्स, एम. पी. नगर जोन-1, भोपाल से मुद्रित कराकर 701, अन्नपूर्णा कॉम्पलेक्स, पी.एण्ड.टी चौराहा के पास, भोपाल-3 (म.प्र.) से प्रकाशित।

नोट : किसी भी प्रकार के विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र, भोपाल (म.प्र.) होगा।
सर्वाधिकार सुरक्षित - संपादक/प्रकाशक

क्रम

मेरे शब्द - सवंदेनात्मक विस्तारों की ओर कुछ कदम 04

आलेख 09

प्रज्ञा जोशी : बंदीगृह की औरतें और खामोशी का विमर्श 09

नाइश हसन : ज़िंदा क़ौमों की मुर्दा दास्तान 21

रमाशंकर सिंह : वे बहादुर स्त्रियाँ : हिन्दी कहानी में घुमंतू समुदाय, स्त्री और पुलिस 29

अब्दुल रहीम 'चंदा': ट्रांसजेंडर और समाज : मनोवैज्ञानिक समझ की जरूरत 36

डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी : दलित स्त्री का 'अन्य':आत्मकथा-संदर्भ 42

सुरेश तोमर : इकोफेमिनिज़्म : स्त्री और प्रकृति का पक्षधर 51

समीना खान : राष्ट्रवादी उन्माद के दौर में मुस्लिम स्त्री 60

सुमित पी.वी. : संघर्ष से कामयाबी तक का लंबा सफर 67

ईश्वर सिंह दोस्त : पितृसत्ता : विचारधारा-आलोचना के नए आयाम 77

अवंतिका शुक्ला : समकालीन भारतीय स्त्री आंदोलन 84

बातचीत-एक 95
सविता सिंह, सीमा आज़ाद
रेखा सेठी, रेखा कस्तवार, संजीव चंदन

बातचीत-दो 125
वंदना चौबे, जितेन्द्र विसारिया
अनुपम सिंह, नेहा नरूका

लेखा-जोखा 151

सुधा अरोड़ा : कुछ पहाड़ लाँघे हैं, अभी बाकी हैं बहुत... 152

प्रसंग : आलोचना 157

माया मिश्रा : स्त्री रचनात्मकता : किताबों के आलोक में 157

सवंदेनात्मक विस्तारों की ओर कुछ कदम

(यह अंक स्त्री रचनात्मकता का सिर्फ़ संकलन नहीं है)

Liberal Democracy is Last Days of History'...

ऐसा 1992 में फ्रांसिस फुकोयामा ने अपनी किताब 'एंड ऑफ़ हिस्ट्री' में कहा। वेनेजुएला की ताजा घटना और अन्य देशी विदेशी घटनाएं राजनीतिक नजरिए से भी इसका प्रमाण है। इस नव पूँजीवाद में जो नव फासीवाद भी है, लड़ाई के तरीके बदल गए हैं। अब लड़ाई सभी देशों के भीतर प्राकृतिक संसाधनों की लूटमार के लिए धर्म के उद्घोष की आड़ में की जा रही है। लोगों की संवेदनाओं को भड़काकर स्टेट को क्रूर बनाया जा रहा है। ऐसे में सब-आल्टर्न की वे लड़ाइयाँ जिन्हें अपना हक हासिल करना था, पीछे छूट गई सी गई लगती है। वर्ग का, लैंगिकता का और भारतीय जमीन पर जाति का मुद्दा उन्हीं में से एक है। झूठी संवेदनाओं के तूफान के तरीकों ने जरूरी लड़ाइयों को उनके रास्ते से भटकाकर विभाजित कर दिया है। ऐसे में लैंगिकता की बात करना, हो सकता है फिर हमारे बीच का आधुनिक पुरोहित तबका चेतावनी दे 'अभी इसका समय नहीं है', जैसा कहकर उन्होंने हमेशा इसे प्रतिगामी ठहराया। हालांकि चार दशकों की बहस ने यह फर्क जरूर नाजिर किया है कि आज की नई पीढ़ी ने लैंगिकता के प्रश्नों को समझा है और साथ आकर खड़े होने के लिए राजी हुए हैं।

लैंगिकता की बहुस्तरीय समझ, और संदेहों के बावजूद स्त्री चिंतन के सिद्धांतों में एक आधार है जिसे सभी तरह के समाजों के सदियों के शोषण, गुलामी और असमानता ने तैयार किया है। यह एक जरूरी वज़ह है जिससे इसने विश्व दृष्टिकोण को प्रभावित किया है। लैंगिकता ने न सिर्फ स्त्री की गुलामी की जड़ों को बल्कि श्रम, पूँजी और सत्ता की बहसों को खोलकर समझने में मदद की है। खैर, अभी थोड़े इत्मीनान से इतना तो कहा ही जा सकता है, इस लंबे संघर्ष का परिणाम इस रूप में देखा जा सकता है कि आज स्त्री की जगह थोड़ी सी चौड़ी हुई है।

'लैंगिक असमानता' अब एक पारिभाषिक शब्द है। जब हम इसका प्रयोग करते हैं तो अभिप्राय केवल 'स्त्री और पुरुष' दो जेंडर ही नहीं होता। इस शब्द के दायरे में स्त्री, पुरुष, ट्रांस और अन्य यौन पहचान के व्यक्ति भी शामिल है जिन्हें एक समूह (एलजीबीटीक्यूप्लस) के रूप में जाना जाता है। ये अपने जीने और पहचान के शोषणों से घिरे हुए है। थर्ड जेंडर का संवैधानिक अधिकार सिर्फ ट्रांसजेंडर को ही अधिकार देता है, यौनिक विभिन्नताओं में उलझे अपने शरीर पर ही हिंसा भोगते, डिप्रेशन के शिकार समलैंगिक हमारे आसपास हैं। समाज की अपरिपक्व घृणा के शिकार हैं। अब इन पर भी बात करनी चाहिए। चिंतन की दुनिया के विविध रुपों साहित्य, कला, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र के लिए ये नई चुनौतियाँ हैं कि वह इनके अध्ययन के लिए सैद्धांतिकी बनाए। मुख्यधारा में इनकी जगह सुनिश्चित करे। उनके वांछित मानवीय अधिकारों का सामाजिक, राजनीतिक विश्लेषण करना जरूरी है। साथ ही आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं पर लंबी बहस की दरकार है।

हम जानते हैं- भारतीय साहित्य में 1990 के बाद स्त्री जीवन, नियति और शोषण के प्रकार और कारणों पर बहस हुई। जबकि स्त्री आंदोलन की जमीन आजादी की लड़ाई के साथ-साथ तैयार हुई। लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि लैंगिकता के आधार पर स्त्री के शोषण की वज़हों को विस्तार में समझने-जानने की कोशिश कब शुरू होती है? यह साहित्य का विषय है और साहित्येतर भी उतना ही होना चाहिए। पश्चिम में यह विभिन्न संस्तरों से जूझती, संस्थानों और सड़कों तक से बहुत पहले गुजर चुकी है, नतीजतन एक सिद्धांत वैश्विक दृष्टिकोण में विकसित हो सका। भारतीय पृष्ठभूमि में जेंडर डिस्कोर्स समाज सुधार के रूप में सामने आया और जब शुरूआत हुई तो अपना दर्द कहने में ही स्त्री साहित्य को दशकों लग गये। भारतीय स्त्री के बीच इतनी विभिन्नताएं हैं जो पूरे यूरोपीय महाद्वीप में भी नहीं होंगी। वर्ग, क्षेत्र, भाषा, रंग से भी ज्यादा गहरा विभाजन 'जाति' के भीतर है। इसलिए स्त्रीवाद के डिस्कोर्स के बावजूद 'दलित स्त्रीवाद' को अलग से रेखांकित करने की जरुरत हुई। इसके साथ ही शहरी और गाँव की संरचनाएँ जहाँ असमानता और शोषण के कारक गहरे हो जाते हैं। अवसरों में साफ-साफ बँटवारा दिखाई देता है। इस सभ्यतागत प्रक्रिया ने लैंगिकता की समझ पर हमेशा प्रश्नचिन्ह लगाया है। आज लगभग चार दशक बीत रहे हैं लेकिन जब कोई स्त्री कलम उठाती है तो वे सारे विषाक्त बँटवारों के कोड़े उसके जेहन पर टीस उठते हैं, जो उसने खुद महसूस किए हैं या आसपास देखते हुए बड़ी हुई है। हर स्त्री कहानी का कथानक कुछ यहीं से आज भी शुरू होता है और होना लाजमी है क्योंकि सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर लैंगिक विभेद की संरचनाएं जस की तस हैं। हर धर्म का धर्मशास्त्र उसे जस्टिफाई करता है और जैसा कि मैंने कहा कि 'अभी का समय उन धार्मिक संरचनाओं को फिर से स्थापित करने का समय बन गया है।' यही वज़ह है कि इस विशेषांक में सोशल जस्टिस की पूरी यात्रा को थोड़ी दूर से देखने की कोशिश की है। इस देखने की प्रक्रिया में दो-तीन चीजें खास हैं, जैसे कि लैंगिक बहस की यात्रा में हम आज कहाँ पर खड़े हैं? अभी तक सामाजिक प्रक्रियाओं के बीच भारतीय स्त्री को कितना न्याय मिला? क्या चीजें छूट गई और हम कहाँ तक पहुँचे? यह देखना भी जरूरी है कि पूरा लैंगिक विश्लेषण संस्थानों, सेमीनारों, विशेषांकों और प्रकाशनों के कर्मकांड में खो तो नहीं गया?